हिन्दी (मरु-गुर्जर) जैन साहित्य का महत्त्व और मूल्य

- डॉ. शितिकण्ठ मिश्र *

विषय प्रवेश

मरु-गुर्जर जैन साहित्य अपभ्रंश और आधुनिक हिन्दी, राजस्थानी तथा गुजराती साहित्य की मध्यवर्ती कड़ी है। इन भाषाओं के साहित्य को भाषा, शैली, भाव, रस, छन्द, काव्य-रूप आदि की दृष्टि से मरु-गुर्जर जैन साहित्य से एक समृद्ध और सम्पन्न परम्परा विरासत में मिली है। अतः इन भाषाओं में लिखित साहित्य का प्रामाणिक अध्ययन करने के लिए मरु-गुर्जर जैन साहित्य का मनन करना अपरिहार्य है। ऐसा न करने पर विकास की बहुत सी कड़ियों का क्रम भंग हो जाता है और उनकी संगति बैठाने के लिए विद्वानों को बड़ा द्राविड़-प्राणायाम करना पड़ता है। दुःख के साथ स्वीकार करना पड़ता है कि इसके अध्ययन की तरफ जितना ध्यान अपेक्षित था, विद्वानों ने अब तक नहीं दिया है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, हिन्दी में मरु-गुर्जर जैन साहित्य का सर्वांगीण एवं प्रामाणिक इतिहास सुलभ नहीं है। इसके अलग-अलग अंगों पर अनेक विद्वानों ने आलोचना, शोध और इतिहास ग्रन्थ लिखे हैं। मरु और गुर्जर के पंडितों ने अपनी-अपनी भाषा के साहित्य का अलग-अलग अध्ययन भी किया है, जिनमें श्री चन्द्रधरशर्मा "गुलेरी" कृत पुरानी हिन्दी, श्री कामताप्रसाद जैन कृत हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, श्री नाथूराम "प्रेमी" कृत हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, श्री मोतीलाल मेनारिया कृत राजस्थानी साहित्य की रूप-रेखा, श्री नरोत्तमस्वामी कृत राजस्थानी भाषा और साहित्य, श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई कृत जैनगुर्जर कवियों और गुर्जर साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, श्री अगरचन्दनाहटा कृत राजस्थानी जैन साहित्य आदि उल्लेखनीय हैं। पिछले दशक में प्राकृत भारती, जयपुर से राजस्थान का जैन साहित्य नामक एक और उत्तम पुस्तक प्रकाशित हुई है, किन्तु इन सबके बावजूद जैसा पहले निवेदन किया गया है, मरु-गुर्जर के विविधतामय विपुल साहित्य का समवेत, सर्वांगीण और वैज्ञानिक बृहत् इतिहास हिन्दी में लिखा जाना अभी शेष है। इस उदासीनता के कारणों पर विचार करने से पूर्व "मरु-गुर्जर" पद पर यहीं थोड़ा विचार कर लेना समीचीन होगा।

मरु-गुर्जर का अभिप्राय

मरु-गुर्जर एक सामासिक पद है जिसमें मरु और गुर्जर दो शब्द सम्मिलित हैं। इस पद के तीन आयाम हैं। यह शब्द मरु और गुर्जर नामक प्रदेश, उन प्रदेशों की भाषा और उस भाषा में लिखे गये जैन साहित्य का वाचक है। अतः इसका सही अभिप्राय समझने के लिए इन तीनों आयामों को ध्यान में रखना अपेक्षित है। सर्वप्रथम इसके भाषा सम्बन्धी पक्ष पर दृष्टिपात करना उचित है। अपभ्रंश के पश्चात् (वि.सं. 12वीं शताब्दी) और हिन्दी, राजस्थानी तथा गुजराती भाषाओं के विकास से पूर्व (वि.सं. 15वीं शताब्दी) की संक्रमणकालीन संयुक्त काव्य-भाषा का नाम मरु-गुर्जर है, इसमें लिखा गया जैन साहित्य ही मरु-गुर्जर जैन साहित्य है। श्रीचन्द्रधरशर्मा "गुलेरी", महापंडित राहुल-सांस्कृत्यायन प्रभृति विद्वान् इस शब्द के स्थान पर पुरानी हिन्दी शब्द का प्रयोग करते थे। विद्वानों ने मरु-गुर्जर भाषा का विकास शौरसेनी अपभ्रंश की पश्चिमी शाखा - नागर अपभ्रंश से होना प्रामाणित किया है। यह भाषा 12वीं शताब्दी से प्रायः 16वीं शताब्दी तक मध्यप्रदेश, राजस्थान, गुजरात, मालवा आदि की काव्य-भाषा के रूप में व्यवहृत होती रही। राजपूतों का उत्थान और उनके राज-दरबारों में इसके कवियों का सम्मान राजस्थान, गुजरात, मालवा आदि प्रदेशों में जैनधर्म का व्यापक प्रचार-प्रसार और इस धर्म के साधुओं, श्रावकों, कवियों और आचार्यों द्वारा इसे काव्य का माध्यम स्वीकार करना, इसके व्यापक प्रचार एवं प्रतिष्ठा के कुछ प्रमुख कारण हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके पूर्व इसी प्रकार कई शताब्दियों तक अपभ्रंश का काव्य-भाषा के रूप में व्यापक प्रचार एवं सम्मान था। प्रसिद्ध राजस्थानी विद्वान श्री गुलेरीजी का कथन है कि -- अपभ्रंश एक स्थान की भाषा नहीं थी, वह देश भर की भाषा थी, जो शिष्टभाषा रूपी नहरों के समानान्तर बहती जाती थी। इसी परिनिष्ठित अपभ्रंश से उत्पन्न इस संक्रमणकालीन भाषा को पुरानी हिन्दी, पुरानी राजस्थानी, जूनी गुजराती, मरु-सौरठ आदि कई नाम दिए गये हैं, किन्तु इस भाषा के लिए सर्वाधिक उपयुक्त नाम मरु-गुर्जर है, जिस पर यथा-स्थान विचार किया जायेगा।यहाँ ध्यान देने की विशेष यह बात है कि इन सभी शब्दों का प्रयोग विद्वानों ने पर्यायवाची अर्थ में ही किया है। विक्रम की 12वीं से 15वीं शताब्दी तक इन भाषाओं में मूलतः भाषाई-स्तर पर कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता है। इस कालावधि में पुरानी हिन्दी और मरु (राजस्थानी) तथा गुर्जर (गुजराती) भाषायें प्रायः एक ही थीं। मरु और गुर्जर की एकता के सम्बन्ध में प्रसिद्ध भाषाशास्त्री ग्रियर्सन ने लिखा है कि -- ये दोनों एक ही भाषा की दो बोलियाँ हैं, इनका अलगाव हाल की बात है।[1] प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या का भी कथन है कि-- इन दोनों का मूल-स्रोत एक ही है और दोनों एक समान हैं।[2] इसी प्रकार प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी और पुरानी हिन्दी का घनिष्ठ सम्बन्ध डॉ. एल.पी. तेस्सीतोरी आदि विद्वान भी मानते हैं, क्योंकि वे इनका मूल-स्रोत शौरसेनी को ही मानते हैं। वे इसी से एक ओर हिन्दी की ब्रज, बागरु, खड़ी बोली आदि बोलियों का और दूसरी ओर गुजराती तथा राजस्थानी का विकास स्वीकार करते हैं। जिस तरह शौरसेनी और नागर अपभ्रंश शब्द का प्रायः पर्यायवाची अर्थ में कभी प्रयोग किया जाता था, उसी प्रकार आगे चलकर पुरानी हिन्दी और मरु-गुर्जर शब्दों का पर्यायवाची अर्थ में ही प्रयोग किया गया है। इनकी मूलभूत एकता को इंगित करते हुए प्रसिद्ध गुजराती विद्वान श्री मो.द.देसाई ने लिखा है कि-- "जूनी हिन्दी, जूनी गुजराती और जूनी राजस्थानी शब्द कृत्रिम और भेद-बुद्धि को बढ़ाने वाले हैं। कविता की भाषा इस समूचे क्षेत्र की प्रायः एक ही रही है। जिस तरह नानक से लेकर दक्षिण के हरिदास की भाषा कभी ब्रजभाषा कहलाती थी, उसी प्रकार अपभ्रंश के पश्चात् और ब्रजभाषा से पूर्व की साहित्य भाषा को पुरानी हिन्दी या जूनी गुजराती कहा गया। यदि छापेखानों का प्रचार, प्रान्तीयता का अतिरिक्त मोह और मुसलमानों द्वारा फारसी शब्दों को लादने का आग्रह न होता, तो हिन्दी अनायास समस्त देश की भाषा बन चुकी होती।"[3] उदाहरणास्वरूप वे कहते हैं कि -- मीराबाई की काव्य-भाषा को गुजराती, मारवाड़ी और हिन्दी तीनों कहा जाता है। श्री गुलेरीजी ने आ. हेमचन्द्र के सिद्धहेमानुशासन से एक दोहा उद्धृत करके उसे पुरानी हिन्दी का नमूना बताया है। उसके प्रचलित राजस्थानी रूप से तुलना करने पर हम उसे आसानी से राजस्थानी दोहा कह सकते हैं। दोहा इस प्रकार है --

"वायसु उड्डावन्तिअंए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति,
अद्धया वलय महिहिगय, अद्धा फुट्ट तडत्ति।

इसका प्रचलित राजस्थानी रूप इस प्रकार है --

काग उड़ावण जांवती पिय दीठो सहसत्ति,
आधी चूड़ी कागगल आधी टूटि तडत्ति।

अर्थात् आकस्मात प्रिय को आता देखते ही नायिका फूल कर ऐसी कुप्पा हो गई कि उसके सींकिया हाथों की चूड़ी टूटकर शकुन बोलने वाले कौवे के गले में चली गई। गुलेरीजी अपनी व्यंग्य-विनोदपूर्ण शैली में कहते हैं कि-- "आधी चूड़ी का गगल में जाने से अशुभ का भय भी खत्म हो गया और निशाना भी ठीक बैठ गया।"[4] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी लिखा है कि-- उस समय की हिन्दी और राजस्थानी में इतना रूपभेद नहीं हो गया था, जितना आजकल है। यदि यह कहा जाय कि वे एक ही थीं, तो अत्युक्ति न होगी। राजस्थानी साहित्य का सम्बन्ध एक ओर हिन्दी से है, तो दूसरी ओर इसका घनिष्ट सम्बन्ध गुजराती से भी है। इसीलिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कभी-कभी एक ही रचना को एक विद्वान पुरानी हिन्दी, तो दूसरा पुरानी राजस्थानी और तीसरा पुरानी गुजराती की रचना बताता है। इस पुरानी राजस्थानी या जूनी गुजराती में दोनों ही प्रदेशों की भाषा के पूर्व रूप तो मिलते ही हैं, प्राकृत और अपभ्रंश के रूप भी इनमें मिले रहते हैं। इसी मिश्र-भाषा में जैनकवियों ने अपना पुष्कल साहित्य सृजित किया है। काफी पहले आ. रामचन्द्रशुक्ल ने भी कहा था कि-- आदिकाल में जो कुछ असंदिग्ध सामग्री प्राप्त है, उसकी भाषा अपभ्रंश अर्थात् प्राकृताभास हिन्दी है। इस प्राकृताभास हिन्दी का अभिप्राय यह है कि यह उस समय के कवियों की भाषा है। कवियों ने काव्य परम्परा के अनुसार साहित्यिक अपभ्रंश के पुराने शब्द तो लिए ही है, विभक्तियाँ, कारकचिन्ह, क्रियाओं के रूप आदि भी बहुत कुछ पुराने रखें गये हैं।

वस्तुतः काव्य-भाषा विस्तृत क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाली शिष्ट या परिनिष्ठित भाषा होती है, जिसमें अनेक भाषा-बोलियों के प्रयोग सम्मिलित होते हैं। वह एक स्थानीय बोली मात्र नहीं होती। इसमें कई क्षेत्रीय बोलियों के पूर्व रूप भी प्राप्त होते हैं, किन्तु उस काव्य-भाषा से भावी बोलियों का उद्भव और विकास नहीं सिद्ध होता। जिस प्रकार खड़ी बोली से आधुनिक हिन्दी का और लंदन की बोली से अंग्रेजी भाषा का विकास हुआ है, उसी प्रकार कई स्थानीय बोलियों के सहयोग से मरु-गुर्जर भाषा का विकास हुआ था। अतः मरु-गुर्जर में इन सभी देशी-भाषाओं की मूल प्रवृत्तियाँ मिलती हैं और इसके अध्ययन द्वारा हमें हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती भाषा का विकास क्रम समझने में आसानी होती है। मरु-गुर्जर का यही भाषा-वैज्ञानिक महत्त्व है।

वस्तुतः काव्य-भाषा का संयुक्त स्वरूप या षट्भाषा रूप प्राचीनकाल से प्रचलित रहा है। साहित्य की भाषा किसी प्रदेश विशेष के प्रयोगों तक ही परिमित नहीं रह सकती। अपभ्रंश इसी प्रकार की परिनिष्ठित काव्य-भाषा थी। आगे चलकर कबीर आदि निर्गुण संतों की सधुक्कड़ी भाषा भी इसी प्रकार की मिश्र-भाषा शैली थी। यही स्वरूप ब्रजभाषा का रहा, जिसके सम्बन्ध में काव्य निर्णयकार श्री भिखारीदास ने लिखा है --

"ब्रजभाषा भाषा रुचिर कहैं सुमति सब कोइ।
मिलै संस्कृत पारस्यौ पै अति प्रगट जुहोइ।

वे इस षट्भाषा के प्रमाणस्वरूप तुलसी और गंग का उदाहरण देते हैं --

"तुलसी गंग दुवौ भये सुकविन के सरदार।"

इनके काव्य में मिली भाषा विविध प्रकार की है। इस "विविध प्रकार" की काव्य-भाषा का सही स्वरूप समझने के लिए मरु-गुर्जर या पुरानी हिन्दी का सही स्वरूप जानना आवश्यक है, अन्यथा आधुनिक देशी-भाषाओं के जन्म और विकास की मनगढन्त कहानियों के आधार पर प्रादेशिकता को अनावश्यक प्रश्रय दिया जाता रहेगा। सधुक्कड़ी का अर्थ आचार्य शुक्ल ने बताया है कि-- *"राजस्थानी, पंजाबी मिली खड़ी बोली।"* किन्तु कबीर की रमैनी और सबद् की भाषा में ब्रज और पूरबी प्रयोगों का पुट भी पर्याप्त प्राप्त होता है अर्थात् उसमें कई बोली, भाषाओं का प्रयोग सम्मिलित है। इस सधुक्कड़ी का पूर्व रूप मरु-गुर्जर भाषा ही है। हिन्दी का आदिकालीन साहित्य जो अधिकतर राजस्थान में रचा गया, मरु-गुर्जर भाषा से प्रभावित है। डिंगल और पिंगल इसी की काव्य-शैलियाँ हैं। धर्मसूरिकृत जम्बूस्वामीरासा की भाषा को स्व. दलाल ने जूनी गुजराती और श्री प्रेमीजी ने पुरानी हिन्दी कहा है क्योंकि ये दो भाषायें नहीं थीं। सप्तम् हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर श्री प्रेमीजी ने जबलपुर में कहा था कि-- पुरानी हिन्दी और पश्चिमी या जूनी गुजराती तो प्रान्तभेद से एक ही भाषा के अलग-अलग पर्यायवाची नाम हैं। वि.सं. 15वीं-16वीं शताब्दी तक का जैन साहित्य इन तीनों प्रान्तों का एक ही है। श्री अगरचन्दनाहटा ने वि.सं.13वीं शताब्दी की जैन रचनाओं की भाषा पर विचार करते हुए लिखा है, 'इनमें से कुछ की भाषा अपभ्रंश प्रभावित राजस्थानी है और कुछ बोलचाल की राजस्थानी है। इनमें से कुछ राजस्थान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और कुछ गुजरात में रची गईं, परन्तु दोनों स्थानों में लिखीं गईं रचनाओं की भाषा में कुछ अन्तर नहीं है।[5] सारांश यह है कि वे भी दोनों भाषाओं का अभेद अस्वीकारते हैं। वे मरु-गुर्जर शब्द को स्पष्ट करते हुए आगे लिखते हैं-- तत्कालीन राजस्थानी, मालवा, गुजरात तक प्रचलित थी। इसलिए उसे मरु-गुर्जर कहना अधिक उपयुक्त है। इसे ही पुरानी हिन्दी और मरु-गुर्जर कहना अधिक उचित है। राजस्थान, गुजरात और मध्यदेश में दूर-दूर तक प्रयुक्त होने वाली इस काव्य-भाषा का मरु-गुर्जर नाम ही सर्वाधिक उपयुक्त भी है क्योंकि पुरानी हिन्दी नाम में अतिव्याप्ति दोष प्रतीत होता है। श्री गुलेरी और श्री राहुल जैसे विद्वान् इन प्रदेशों में रचित दसवीं शताब्दी तक की समस्त रचनाओं को पुरानी हिन्दी में परिगणित करते हैं, किन्तु सभी विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हो पाते। सच तो यह है कि थोड़ी सी जैनेतर प्राप्त रचनाओं जैसे -- उक्तिव्यक्तिप्रकरण, प्राकृतपैङ्गलम्, कीर्तिलता आदि के आधार पर पुरानी हिन्दी नाम दिया गया था, किन्तु बाद में जैन भण्डारों से अपार जैन साहित्य प्राप्त हुआ, जो मरु-गुर्जर भाषा में रचित है। इस समस्त साहित्य का उपयुक्त नाम मरु-गुर्जर जैन साहित्य ही है।

इस भाषा की एकता का मुख्य कारण इन प्रदेशों की भौगोलिक, धार्मिक और सांस्कृतिक एकता है। यह तो पहले कहा जा चुका है कि इन प्रदेशों की बोलियों का मूल-स्रोत एक ही है। इसके अलावा वैवाहिक सम्बन्ध, व्यापार, तीर्थयात्रा आदि के द्वारा इन स्थानों की भाषा-बोली एक स्थान से दूसरे स्थान तक फैलती रही। वस्तुतः गुजराती, राजस्थानी श्रेष्ठिवर्ग और जैन साधु समाज ने इस भाषा की एकता को सुदृढ़ किया। गुजरात और मारवाड़ की सीमायें मिली हुई हैं। जैनमुनि इन प्रदेशों में निरन्तर विहार करते थे। जैनधर्म के कुछ गच्छों का प्रभाव इन दोनों प्रान्तों में समान रूप से अब भी पाया जाता है। अतः इन गच्छों के लेखकों की भाषा में गुजराती और राजस्थानी का प्रयोग समान रूप से होता रहा है। जैन श्रावक भी आजीविका के लिए एक से दूसरे प्रदेश में प्रायः आते-जाते रहते थे और भाषाई एकता को मजबूत करते रहते थे। यही कारण है कि इन प्रदेशों में लिखे गये जैन काव्य की एक सामान्य भाषा-शैली का विकास और प्रसार दूर-दूर तक हो गया और तीन-चार शतकों तक यही भाषा अधिकांश जैन-काव्य का माध्यम रही।

मरु-गुर्जर भाषा का स्वरूप

वि.सं. 11वीं शताब्दी तक अपभ्रंश जनता के बोलचाल की भाषा रही। इसके कुछ समय बाद आ. हेमचन्द्र ने इसको व्याकरण के नियमों में बाँध दिया और यह परिनिष्ठित भाषा के रूप में मर्यादित हो गई। इसका एक साहित्यिक रूप रूढ़ हो गया। जिसमें कविजन आगे भी साहित्य सृष्टि करते रहे, परन्तु जनता की बोली निरन्तर परिवर्तित और विकसित होती रहती है। आ. हेमचन्द के कुछ ही दशकों बाद भारतीय राजनीति में बड़ा उथल-पुथल हो गया। मुसलमानी आक्रमण के फलस्वरूप राष्ट्रीय परिस्थिति में घोर परिवर्तन हुआ। विभिन्न प्रदेशों का पारस्परिक सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो गया। जनता का आपस में मिलना-जुलना, व्यापार-कारोबार करना बाधित हुआ, इसलिए अपने-अपने प्रदेशों की राजनीतिक सीमा के अन्तर्गत वहाँ की भाषाओं का एकान्तिक विकास होने लगा। लेकिन एक भाषा से दूसरी भाषा के विकास में शताब्दियाँ बीत जाती हैं। इस संक्रान्तिकाल में इसी मिली-जुली भाषा का साहित्य में व्यवहार होता रहा। अतः देशी-भाषाओं के विकास का सूत्र इसी में उपलब्ध हो सकता है।

आ. हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में तत्कालीन भाषा के पद्यों का नमूना दिया है, उनको पढ़कर हम तत्कालीन मरु-गुर्जर का स्वरूप समझ सकते हैं। जैसे --

"विट्टिए मइ भणिय तुहुं मां कुरु बंकी दिट्ठि।
दुत्ति सकण्णी मल्लि जिव मारइ हियइ पइट्ठि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसमें हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती के लक्षण आसानी से ढूँढे जा सकते हैं और कोई भी भाषा-भाषी इसे अपनी भाषा का पूर्वरुप घोषित कर सकता है। आधुनिक देशी-भाषाओं की विकास प्रक्रिया वि.सं. 15वीं-16वीं शताब्दी तक अपना चक्र पूरा कर लेती है और नई भाषाओं के रूप सामने आ जाते हैं, जैसे-- प्राचीन अइ, अउ के स्थान पर नवीन रूप ऐ, औ प्रतिष्ठित हो चले हैं।

जैन-काव्य की भाषा प्राचीनकाल से यथासम्भव जन-भाषा के करीब रही है। इनके लोकसाहित्य -- चर्चरी, फागु आदि में तत्कालीन लोकभाषा का वास्तविक स्वरूप सुरक्षित है। आधुनिक आर्यभाषा युग में भाषायें संयोगात्मक अवस्था पार कर वियोगात्मक हो गईं। जूनी गुजराती पुरानी हिन्दी या मरु-गुर्जर में यह प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है। मुख-सुख के कारण प्राकृत से अपभ्रंश और अपभ्रंश से देशी-भाषाएँ लगातार समास से व्यासपरक होती गईं और यह इतना बड़ा अन्तर है कि अन्ततः अपभ्रंश और मरु-गुर्जर भिन्न-भिन्न भाषायें हो गईं। स्वयंभू और पुष्पदंत, अपभ्रंश के कवि हैं, किन्तु पुष्पदंत के प्रायः चालीस वर्ष पश्चात् रचित श्री चन्दकृत कथाकोष मरु-गुर्जर की रचना मानी जाती है। कुछ काल तक अपभ्रंश और मरु-गुर्जर में समानान्तर साहित्य सृजन होता रहा। जिनदत्तसूरि की चर्चरी में अपभ्रंश के बीच-बीच मरु-गुर्जर के प्रयोग भी यदाकदा मिल जाते हैं, उसी प्रकार जिनपद्मसूरि कृत स्थूलिभद्र फागु में मरु-गुर्जर भाषा के बीच कहीं-कहीं अपभ्रंश के प्रयोग झलक जाते हैं। जैसे --

"सीयल कोमल सुरहिवाय, जिम जिम वायंते,
माड मडफ्फर माणणिय तिम तिम नाचंते।

महापंडित राहुल ने स्वयंभू की रचनाओं में अनेक हिन्दी रूपों के आधार पर उनकी रचना को हिन्दी-भाषा की रचना सिद्ध की है, किन्तु थोड़ी समानता के आधार पर दोनों को एक भाषा नहीं सिद्ध किया जा सकता। इस मिश्र-भाषा शैली का समय इसलिये वि.सं. 15वीं शताब्दी तक समाप्त समझना चाहिये क्योंकि तब तक अपभ्रंश के कई प्रधान लक्षण इससे हट चुके थे। जैसे-- उकार बहुला प्रवृत्ति प्रायः समाप्त हो चुकी थी। इसीलिए वि.सं. 12वीं से 15वीं शताब्दी तक का समय मरु-गुर्जर का सभय सर्वमान्य है।

मरु-गुर्जर साहित्य का महत्त्व

इस भाषा में विशाल जैन साहित्य का सम्पन्न भण्डार है, जो विविध काव्यरूपों में लिखा गया है। इसकी सम्पन्नता और विशेषता की महामना पं. मदनमोहन मालवीय, विश्व कवि रवि ठाकुर, डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या आदि मनीषियों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। ग्रियर्सन ने इसकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि-- "इसमें ऐतिहासिक महत्त्व का विपुल साहित्य भरा पड़ा है।"[6] वि.सं. 12वीं शताब्दी में शैवमत का देश में व्यापक प्रचार था, किन्तु पूर्वी भारत में तन्त्र-मन्त्र वाले वज्रयानी सम्प्रदाय का और पश्चिमी भारत में संयम प्रधान जैनधर्म का प्रचुर प्रभाव था। इस धार्मिक विविधता में अद्भुत एकता थी। धर्म के नाम पर कोई उपद्रव नहीं होता था। सर्वधर्म समभाव यहाँ के संस्कृति की प्राचीन विशेषता रही है, किन्तु उसी समय धर्म के नाम पर मुसलमानी आक्रमण और अत्याचार होने लगे। इस अशान्ति के समय मध्यदेश का आदिकालीन साहित्य अरक्षित होने के कारण प्रायः नष्ट हो गया। उस समय कान्यकुब्ज प्रदेश पर गाहड़वालों का राज्य था। वे स्वयं बाहरी होने के कारण स्थानीय भाषा कवियों के बजाय संस्कृत को अधिक सम्मान देते थे, इसलिए वहाँ की भाषा में लिखे साहित्य को राज्याश्रय नहीं मिला और जो कुछ साहित्य जनाश्रय में लिखा गया, वह मुसलमानी आक्रमण के समय प्रायः नष्ट हो गया। आ. रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में हिन्दी के आदिकाल का विवरण जिन पुस्तकों के आधार पर दिया है, उनमें से अधिकतर बाद में अप्रामाणिक या जाली सिद्ध हो गए हैं। जो शेष प्रामाणिक ग्रन्थ हैं, वे प्रायः राजस्थान के विभिन्न राज-दरबारों में लिखे गये हैं, जिनकी भाषा मरु-गुर्जर की विविध शैलियाँ हैं। अतः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिन्दी का विकास-क्रम एवं उसके साहित्य का वास्तविक इतिहास जानने का एक मात्र प्रामाणिक साधन मरु-गुर्जर जैन साहित्य ही है।

कोई भाषा और उसका साहित्य राज्याश्रय, धर्माश्रय या जनाश्रय में विकसित होता है और सुरक्षित रहता है। जैसा कहा गया है कि हिन्दी को केवल जनाश्रय पर निर्भर करना पड़ा, किन्तु मरु-गुर्जर की कहानी उससे भिन्न रही। इस भाषा-साहित्य को गुजरात, मालवा और राजस्थान में राष्ट्रकूट, परमार और सोलंकी शासकों का संरक्षण प्राप्त हुआ था। मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजाओं के मंत्री भी प्रायः जैन हुआ करते थे, जिनके यहाँ जैन मुनियों और कवियों का सम्मान होता था। बरार में उन दिनों जैन वैश्यों का प्राधान्य था। उन्होंने भी मरु-गुर्जर साहित्य को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। राष्ट्रकूटों के पतन के पश्चात् गुजरात के सोलंकी शासकों के समय जैनधर्म की मान्यता राजधर्म के रूप में हो गयी थी। इसलिए यदि स्वयंभू और पुष्पदंत राष्ट्रकूटों की छत्र-छाया में पनपे, तो हेमचन्द्र आदि परवर्ती आचार्यों को सोलंकी शासक सिद्धराज और कुमारपाल का राज्याश्रय प्राप्त था। जैन धर्माचार्यों ने मरु-गुर्जर के प्रचार एवं उसके साहित्य के सृजन एवं संरक्षण में अनुपम योगदान किया। जैनधर्म में दान के सप्त क्षेत्रों में तृतीय क्षेत्र-शास्त्रलेखन एवं संरक्षण का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके अनुसार प्रत्येक साधु एवं श्रावक के लिए शास्त्राध्ययन, लेखन और संरक्षण उसका आवश्यक कर्त्तव्य बताया गया है। अतः जैन मन्दिरों और शास्त्रभण्डारों में हस्तप्रतियों के लेखन तथा संरक्षण का बड़ा उत्तम प्रबन्ध किया गया। जैनसंघ द्वारा स्थापित संचालित ग्रन्थ-भण्डार इस क्षेत्र में अनेक हैं जिनमें जैसलमेर और बीकनेर के विशाल ज्ञानभण्डारों के अतिरिक्त अभयजैन ग्रन्थालय, अनूप पुस्तकालय, प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान आदि उल्लेखनीय हैं। इन भण्डारों में अधिकांश जैन साहित्य सुरक्षित है। जैन धर्मावलम्बी अपने उदार और सहिष्णु दृष्टिकोण के कारण कभी संघर्ष में नहीं पड़े। अधिकतर जैनसाधु संयमी और प्रभावशाली हुए। जैनश्रावक एवं श्रेष्ठी भी इतने सक्षम थे कि उनकी मुसलमानी दरबारों में अच्छी साख थी, जिसके कारण इन शास्त्रभण्डारों पर मुसलमानों की क्रूर दृष्टि शायद ही कभी पड़ी। इसलिए यह साहित्य राज्याश्रय और धर्माश्रय प्राप्त कर विकसित हुआ और सुरक्षित रहा।

इन हस्त-प्रतियों में समस्त उत्तरभारत के महत्वपूर्ण इतिहास की प्रामाणिक सामग्री के साथ ही भाषा-विकास एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों की क्रमिक कड़ियाँ सुरक्षित हैं, जिनके आधार पर हम उत्तर-भारत के इतिहास, भाषा, साहित्य और संस्कृति का सही स्वरूप समझ सकते हैं। इनके सम्बन्ध में अप्रामाणिकता का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि ये धर्म बुद्धि से प्रेरित अत्यन्त श्रद्धापूर्वक लिखी गई और सुरक्षित रखी गई हैं, जबकि अन्य साहित्य की उतनी प्राचीन एवं प्रामाणिक प्रतियाँ उपलब्ध न होने के कारण मूल-ग्रन्थ का वास्तविक पाठ और उसकी भाषा का सही स्वरूप निर्धारित करना कठिन कार्य है। इसलिए मरु-गुर्जर जैन साहित्य की सर्वाधिक महत्ता है क्योंकि उसके आधार पर हम अपनी भाषा और साहित्य का क्रमिक इतिहास और विकास-क्रम ढूंढ़ सकते हैं। इस सम्बन्ध में एक बात यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है कि ये हस्तप्रतियाँ प्रत्येक शताब्दी के प्रत्येक चरण की सन्-संवतवार उपलब्ध होने के कारण ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक अध्ययन का ठोस आधार प्रस्तुत करती हैं। यह खेद की बात है कि इस विशाल प्रामाणिक साहित्य के प्रति हिन्दी के इतिहासकार उदासीन रहे हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपभ्रंश में लिखित बौद्ध एवं जैन धार्मिक साहित्य पर विचार प्रकट करते हुए लिखा -- "सिद्धों और जोगियों की रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे साम्प्रदायिक-शिक्षा मात्र हैं। अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नही आती। उन रचनाओं की परम्परा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते। अतः धर्म सम्बन्धी रचनाओं की चर्चा छोड़ कर अब हम सामान्य साहित्य की जो कुछ सामग्री मिलती है उसका उल्लेख करेंगे।" इस उल्लेख के अन्तर्गत उन्होंने हेमचन्द्र, सोमप्रभसूरि, मेरुतुंग, विद्याधर और शार्ङ्गधर का अतिसंक्षिप्त परिचय देकर इस विशाल साहित्य का खाता बन्द कर दिया। वस्तुतः इस साहित्य में जैनधर्म की कोरी उपदेशपरक रचनायें ही नहीं हैं बल्कि इसमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विपुल सरस काव्य-साहित्य भी है, जो सहृदयों के सहानुभूति की प्रतीक्षा कर रहा है। आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने जोर देकर कहा है कि -- इस साहित्य को अनेक कारणों से इतिहास ग्रन्थों में सम्मिलित किया जाना चाहिये। कोरा धर्मोपदेश समझ कर छोड़ नहीं देना चाहिये। धर्म वहाँ केवल कवि को प्रेरणा दे रहा है। जिस साहित्य में केवल धार्मिक उपदेश हो उससे वह साहित्य निश्चित रूप में भिन्न है, जिसमें धर्म भावना प्रेरक शक्ति के रूप में काम कर रही हो और साथ ही जो हमारी सामान्य मनुष्यता को आन्दोलित, मथित और प्रभावित कर रही हो।

उनका विचार है कि धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश को हमेशा काव्यत्व का परिपंथी नहीं समझा जाना चाहिये अन्यथा हमारे साहित्य की विपुल सम्पदा चाहे वह स्वयंभू, पुष्पदंत या धनपाल की हो या जायसी, सूर, तुलसी की हो, साहित्य क्षेत्र से अलग कर दी जायेगी। इसलिए धार्मिक होने मात्र से कोई रचना साहित्य क्षेत्र से खारिज नहीं की जा सकती। लौकिक कहानियों को आश्रय करके धर्मोपदेश देना इस देश की प्रथा रही है। मध्ययुग के साहित्य की प्रधान प्रेरणा धर्म साधना ही रही है और धर्म बुद्धि के कारण ही आज तक प्राचीन साहित्य सुरक्षित रह सका है। जैन साहित्य के सम्बन्ध में आ. द्विवेदी का यह अभिमत शत-प्रतिशत सही है।

जैन-काव्य का लक्ष्य

जीवन और जगत् के प्रति जैनाचार्यों का एक विशेष दृष्टिकोण है। संसार की नश्वरता, समत्वदृष्टि, अहिंसा, जीवदया और नैतिक संयम-नियम पर उनका विशेष ध्यान रहता है। इसलिए उन्होंने साहित्य को केवल कला या साहित्य के लिए नहीं माना। मानव के चार पुरुषार्थों में परमपुरुषार्थ-मोक्ष को वे साहित्य का साध्य मानते हैं। इसीलिए उन्होंने साहित्य में श्रृंगार का रसराजत्व नहीं स्वीकार किया। रति या श्रृंगार मनुष्य को उत्तेजित करता है, भोग-विलास की ज्वाला उद्दीप्त करता है। इसकी ओर तो मनुष्य स्वतः आकर्षित होता है। इसके शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती। यह मनुष्य को निरन्तर व्यग्र रखता है, जबकि मनुष्य स्वभावतः शान्तिप्रिय है, इसलिए जीवन में शान्ति या शम ही काम्य है। मनुष्य को वास्तविक शान्ति, सुख-दुःखादि द्वन्दों से ऊपर उठकर प्राणिमात्र के प्रति समत्व धारण करने पर ही मिलती है। अतः मरु-गुर्जर जैन साहित्य का प्रधानस्वर शान्ति या शम का है, जिसकी आज संसार को सर्वाधिक आवश्यकता है। इसीलिए यह साहित्य आज भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना शताब्दियों पूर्व था और उतना ही शताब्दी बाद तक रहेगा। यह मरु-गुर्जर जैन साहित्य का सार्वभौम महत्त्वपूर्ण पक्ष है और साहित्य जगत् को यह इसकी अनूठी भेंट है। इनका कथन है कि श्रृंगार और शम के स्वस्थ समन्वय से ही मानव को जीवन का चरमलक्ष्य प्राप्त हो सकता है। इसलिए जैन लेखक जीवन की मादकता, इन्द्रिय-लिप्सा और कामुक उद्वेगों का परिहार अन्ततः शम में करते हैं। इन काव्यों में नायक अपने यौवन में युद्ध, भोग आदि में अवश्य लिप्त होते हैं और कवि वीर, श्रृंगार आदि के विमर्श का अवसर निकाल लेते हैं, किन्तु अन्त में घटना क्रम अपने चरम पर पहुँच कर शान्तरस में पर्यवसित हो जाता है। यह भाव बड़े-बड़े लोगों को कुसमय में सहारा देता है। पउम-चरिउ में लक्ष्मण के शक्ति लगने के अवसर पर स्वयम् पद्म श्रीराम जब करुणासमुद्र में ऊभचूभ कर रहे होते हैं, तभी उन्हें जीवन की नश्वरता और शरीर की क्षणभंगुरता का बोध होता है और वे तत्क्षण परमशान्ति प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार जैन मुनि स्थूलिभद्र घोर श्रृंगारी नायक थे किन्तु अन्त में कोशा-वेश्या के प्रसंगोंपरान्त वे भी परमसंयमी, निष्काम तथा अनासक्त हो जाते हैं। इस प्रकार साहित्य द्वारा व्यष्टि एवं समष्टि के मुक्ति की साधना की गई है। इसलिए साम्प्रदायिक-साहित्य समझ कर इसे साहित्य की कोटि से खारिज करना अपने पैरों में ही कुल्हाड़ी मारना है।

भाव की दृष्टि से संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश अथवा मरु-गुर्जर में प्राप्त समस्त जैन साहित्य निश्चय ही एक श्रेणी का है। उसमें सर्वत्र एक विशिष्ट धार्मिक वातावरण मिलता है, किन्तु जैन कवियों ने सबसे महत्त्वपूर्ण यह कार्य किया है कि उन्होंने धर्म का साहित्य के साथ सफल समन्वय किया। जिस समय जैनकवि काव्यरस की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तरफ झुकता है, उस समय उसकी कृति सरस एवं श्रेष्ठ काव्य का रूप धारण कर लेती है। अपभ्रंश कवि स्वयंभू, पुष्पदंत, जोगिन्दु, रामसिंह और धनपाल के पश्चात् मरु-गुर्जर के शालिभद्रसूरि, विनयप्रभसूरि, अम्बदेवसूरि मेरुनन्दन, भट्टारक सकलभूषण, समयसुन्दर, हीरविजय, यशोविजय आदि अनेक उल्लेखनीय श्रेष्ठ कवि हैं। धर्मोपदेश का प्रसंग जब प्रधान बन जाता है, उस समय वह रचना अवश्य पद्यवद्ध उपदेशात्मक कृति बन जाती है। ऐसी भी तमाम रचनायें हैं, जिनमें श्रावकों के लिए आचार, नियम-व्रत आदि की व्याख्या पद्य में की गई है। जैसे-- देवसेनकृत सावयधम्म दोहा, जिनदत्तसूरि कृत उपदेशरसायन रास आदि, किन्तु समस्त जैन साहित्य निश्चय ही इसी कोटि का नहीं है। वह विपुल और बहु-आयामी है। उन्होंने धार्मिक एवं दार्शनिक विषयों पर प्रचुर सरस-काव्य, नाटक, रास आदि लिखे हैं। इसके साथ ही साहित्यशास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद, कोष, व्याकरण, गणित, राजनीति, पुराण, शकुन, स्वप्न विचार इत्यादि नाना प्रकार के विषयों पर भी विपुल साहित्य विविध काव्यरूपों और नाना प्रकार के छंदों में प्रस्तुत किया गया है।

यह विशाल साहित्य बहुत समय तक शास्त्रभण्डारों में बन्द पड़ा रहा और बाहरी दुनियाँ के लिए अनजान था। इसकी जानकारी बृहत्तर पाठक समाज को देने का सर्वप्रथम श्रेय यूरोपीय विद्वानों को है। सन् 1845 में अंग्रेज विद्वान् ने वररुचि के प्राकृत-प्रकाश का सुसंपादित संस्करण प्रकाशित करके इसका श्रीगणेश किया। उसके बाद जर्मन पंडित पिशेल ने 1877 ई. में हेमचन्द के सिद्ध-हैम का सम्पादन प्रकाशन करके प्राकृत और अपभ्रंश के अध्ययन की नींव डाली। जर्मनी के ही अन्य विद्वान् जैकोबी ने समराइच्चकहा, पउमचरित आदि की विद्वत्तापूर्ण भूमिकाओं के साथ उनका सम्पादन प्रकाशन करके इनके अनुपम काव्य-पक्ष की तरफ लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। भविष्यदत्त और सनत्कुमार के संस्करणों के प्रकाशन ने उस क्षेत्र में अध्ययन की व्यापक संभावनाओं से लोगों को परिचित कराया। भारतीय विद्वानों में हरप्रसाद शास्त्री, पी.डी. गुणे, प्रो. हीरालाल जैन, राहुल सांस्कृत्यायन आदि के पश्चात् सर्वश्री बागची, भायाणी, देसाई, दलाल, मुनिजिनविजय, उपाध्ये, नाहटा आदि ने बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य इस क्षेत्र में किया है। अब तो इधर अनेक विद्वान कार्यरत हो गये हैं और जैनभण्डारों में भी पुरानी रूढ़िवादिता तथा गोपन-वृत्ति नहीं रह गई है। अतः आशा है कि निरन्तर नये-नये ग्रन्थों की शोध, उनके सम्पादन और प्रकाशन से इसके अध्ययन का क्षितिज क्रमशः विस्तृत होता जायेगा।

मूल्यात्मकता

सामान्य मनुष्य की प्रतिष्ठा

अब हम इस साहित्य के मूल्य पर विचार करेंगे। इस साहित्य की कुछ बहुमूल्य विशेषतायें हैं, जिन्होंने इसे समग्र भारतीय साहित्य में विशिष्ट महत्त्व प्रदान किया है, इनमें सर्वप्रधान विशेषता है काव्य में सामान्य मनुष्य को सम्मान देना। संस्कृत साहित्य में सामान्य व्यक्ति को प्रायः काव्य का नायक नहीं बनाया जाता था। काव्य का साधारण व्यक्ति के साथ सर्वप्रथम सम्बन्ध जैन साहित्य में ही जोड़ा गया। नियम संयम का पालन करने वाला कोई भी आचारवान् श्रावक या श्रेष्ठि अथवा साधारण श्रमिक काव्य का चरितनायक बनाया जाने लगा। इस क्रान्तिकारी उदार दृष्टिकोण के कारण जैन साहित्य को सच्चे अर्थ में जनता का साहित्य माना जाना चाहिए। आज के जनवादी और प्रगतिशील साहित्य की नींव जैन साहित्य में सुरक्षित है। देशी-भाषाओं के आधुनिक साहित्य को मरु-गुर्जर जैन साहित्य से यह बहुत बड़ी विरासत प्राप्त हुई है।

धार्मिक सहिष्णुता

आमतौर पर जैन साहित्य में किसी शलाका पुरुष का चरित्र-चित्रण किया जाता है अथवा किसी व्रत-नियम आदि का माहात्म्य बताया जाता है लेकिन अपने मत का प्रतिपादन करते हुए भी अनेकान्तवादी जैनाचार्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साम्प्रदायिक कट्टरता के वेग में कभी सहिष्णुता और उदारता को तिलांजलि नहीं दे देता है। यह उदारता इस साहित्य की महती विशेषता है, जिसके अनुपालन का संकेत-संदेश जैनकवि किसी भी धर्मोपदेशक को दे सकता है क्योंकि वह कोरा पर-उपदेश कुशल नहीं होता बल्कि स्वयं उसका आचरण निष्ठापूर्वक करता है। स्याद्वाद् और कर्मवाद इन रचनाओं का मूलाधार है।

कर्मवाद की प्रतिष्ठा

कर्मवाद में अटूट आस्था के कारण जैन साहित्य डंके की चोट पर कहता है कि मनुष्य अपने कर्म का फल अवश्य पाता है। कर्म से ही वह बन्धन में पड़ता है और अपने कर्म से ही वह मुक्त हो सकता है। कोई दूसरा न उसे बाँधता है, न छोड़ता है। मनुष्य के पुरुषार्थ पर ऐसा दृढ़ विश्वास संसार के अन्य धर्माश्रित साहित्य में दुर्लभ है। वैष्णव-भक्ति के अन्तर्गत भी श्रीकृष्ण और श्रीराम, ब्रह्म से मनुष्य के रूप में अवतरित होते हैं, किन्तु जैन अरहन्त अपने कर्मों द्वारा मनुष्य से भगवान बनते हैं। वे भगवान को नीचे अवतरित कराने में विश्वास नहीं करते वरन् मनुष्य को ही अपने सत्कर्मों द्वारा मुक्त, शुद्ध चैतन्य भगवान बनाने में विश्वास करते हैं। मनुष्य के पुरुषार्थ और कर्म के महत्त्व की यह घोषणा संसार के अन्य धर्म और साहित्य के लिए मरु-गुर्जर जैन साहित्य से प्राप्त एक महत्वपूर्ण प्रेरणा है। "कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करै सो तस फल चाखा" -- संत तुलसी की इन पंक्तियों में वहीं प्रेरणा मुखर हुई है।

भक्त से भगवान

इसीलिए जैनधर्म में भगवान और भक्ति का स्वरूप वैष्णवभक्ति साहित्य से कुछ भिन्न प्रकार का है। जैन भक्त वीतराग भगवान से अपनी भक्ति के बदले दया, अनुग्रह, प्रेम आदि की याचना नहीं करता। भक्त वीतराग पर रीझ कर उससे भक्ति या श्रद्धा करता है। कर्मों का कर्त्ता और उसके फल का भोक्ता स्वयं जीव है। इसलिए वह अपनी श्रद्धाभक्ति के बदले वीतराग से दया की याचना नहीं करता। भक्ति का स्वरूप समझाते हुए श्री देवचन्द जी कहते हैं कि--

अजकुल गत केशरी लहेरे, निज पद सिंह निहाल। तिम प्रभु भक्ति भवी लहेरे, आतम शक्ति सम्भाल।

जिस प्रकार अजकुल में पालित सिंह - शावक सिंह के दर्शन मात्र से अपने सुसुप्त सिंहत्व को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार साधक तीर्थंकर के गुण, कीर्तन, स्तवन के द्वारा निज में जिनत्व का बोध कर लेता है। स्तुतिसाधक की अन्तश्चेतना को जाग्रत करती है और वह स्वयं उस आदर्श को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। वह उसके गुण का स्मरण करके अपने दुर्गुणों से मुक्ति के लिए सत् प्रयत्न में स्वयं लग जाता है। गीता की घोषणा ***"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।"***

"अहंत्वाम् सर्व पापेभ्यो मोक्षयिस्यामि मा शुचः" में जैन भक्त विश्वास करके अपने कर्त्तव्यों और धर्मों की तिलाञ्जलि नहीं दे देता बल्कि अपने कर्म पर भरोसा रख कर निरन्तर संयम, नियम और धर्माचरण द्वारा अपनी मुक्ति का मार्ग स्वयं प्रशस्त करता है।

भक्ति की पूर्व परम्परा

हिन्दी साहित्य में भक्ति का प्रवेश वैष्णव भक्ति आन्दोलन के साथ वि.सं. 14वीं-15वीं शताब्दी में हुआ, किन्तु मरु-गुर्जर जैन साहित्य में "जयतिहुअन" स्तोत्र और इसी प्रकार के अन्य अनेक स्तोत्र, स्तवन जैसी भक्तिपरक रचनायें काफी पहले से प्राप्त होती हैं। अतः हिन्दी भक्ति साहित्य की अनेक पूर्ववर्ती विशेषतायें इस में उपलब्ध होती हैं। जैनभक्ति काव्य को भी निष्काम सकामभक्ति धारा में उसी प्रकार विभक्त किया जाता है जैसे हिन्दी का निर्गुण और सगुण भक्ति काव्य है। वस्तुतः जैनधर्म साहित्य में ठीक उसी प्रकार निर्गुण और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सगुण का भेद नहीं है, जैसा हिन्दी भक्ति साहित्य में है बल्कि इनमें समन्वय मिलता है। वे आत्मा और परमात्मा को एक स्वीकार करते हैं अप्पा सो परमप्पा। इनका ब्रह्म निर्गुण और सगुण से परे शुद्ध प्रेमस्वरूप है। यह साहित्य सच्चे अर्थ में सत् साहित्य का अनुवर्ती है। रहस्यवाद, गुरु को भगवान मानना, बाह्याडम्बर का विरोध, चित्तशुद्धि, संसार की असारता और आत्मा-परमात्मा के प्रति प्रिय-प्रेमीरूप में विश्वास इस साहित्य से ही संत साहित्य तक पहुँचा है। अतः इसके अध्ययन द्वारा हिन्दी का संत साहित्य ज्यादा सुविधापूर्वक समझा जा सकता है। इन लोगों ने शान्तरस प्रधान धार्मिक साहित्य द्वारा वस्तुतः साहित्य को ही उसके उच्चतम आसन पर प्रतिष्ठित किया है और उसके माध्यम से मानव को सहिष्णुता, संयम एवं आदर्श का सच्चा मार्ग दिखाया है। जैन भक्त कवियों में आनंदघन, भैया भगवतीदास, बनारसीदास आदि अनेक उच्चकोटि के कवि हो गये हैं। आगे चलकर जैनधर्म में तीर्थंकरों-यक्ष-यक्षी के रूप में विभिन्न देवी-देवताओं का प्रवेश हिन्दू-भक्ति परम्परा का प्रभाव हो सकता है। देवी-देवताओं के प्रति भक्ति और उनसे अपने दुःखों से मुक्ति की प्रार्थना भी भागवत परम्परा का ही प्रभाव है। इस प्रकार के स्तोत्र और स्तवन भी बड़ी संख्या में मरु-गुर्जर जैन साहित्य में उपलब्ध हैं, परन्तु वे निश्चय ही परवर्ती हैं। प्रारम्भिक जैन स्तोत्र साहित्य में ऐसे भाव नहीं मिलते। स्तोत्र-स्तवन की परम्परा जैन साहित्य में काफी पुरानी है क्योंकि जैनदर्शन के षडावश्यकों में इसे दूसरा आवश्यक कहा गया है। यह भक्ति किसी उद्धारकर्त्ता के भरोसे बैठकर आलस्य की अनुमति नहीं देती बल्कि स्वयं अपनी मुक्ति के लिए साधक को संयम और कठोर साधना की प्रेरणा देती है। इस भक्ति में वस्तुतः ज्ञान और कर्म का सच्चा समन्वय है। समस्त जैनशास्त्र चार अनुयोगों में विभक्त है (1) प्रथमानुयोग, (2) करणानुयोग (विश्व का भौगोलिक वर्णन), (3) चरणानुयोग (साधुओं और श्रावकों का अनुशासन) और (4) द्रव्यानुयोग (तत्वज्ञान)। इनमें से प्रथमानुयोग का सम्बन्ध साहित्य से है। समस्त धार्मिक कथा साहित्य प्रथमानुयोग के अन्तर्गत गिना जाता है। जैन साहित्य में प्राप्त महापुराण, पुराण, चरितकाव्य, रूपककाव्य, कथाकाव्य, सन्धिकाव्य, रासो, स्तोत्र-स्तवन आदि विविध रूप प्रथमानुयोग के अन्तर्गत आते हैं। पुराण शब्द प्राचीन कथा का सूचक है। पुराण में एक ही महापुरुष का जीवन अंकित होता है, जबकि महापुराण में अनेक महापुरुषों का जीवन अंकित होता है। महापुराण में 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 वासुदेव, 9 प्रतिवासुदेव और 9 बलदेव कुल 63 महापुरुषों (त्रिशष्टिशलाका पुरुषों) का वर्णन होता है। जैन पुराणों में रामायण और महाभारत के पात्रों तथा घटनाओं का वर्णन भी जैन धर्मानुसार किया जाता है। प्रायः चरित काव्यों में आश्चर्य तत्त्व, चमत्कार, विद्याधर, गन्धर्व, यक्ष, देव [illegible] का समावेश मिलता है। तंत्र-मंत्र, स्वप्न-शकुन आदि का भी प्रभाव दिखाया जाता [illegible] भाँति इनमें चमत्कार द्वारा पाठक को उपदेश दिया जाता है। इनके [illegible] में समर्थ और नाना चमत्कारी विद्याओं में पारंगत होते हैं। [illegible] अतिमानवीय पात्रों को आदर्श या माध्यम बनाकर सामान्य [illegible] है।

कथानक रूढि

आवश्यकतानुसार त्याग और ग्रह[illegible] भी आवश्यकतानुसार प्राचीन रू[illegible] यह पूर्व तथा उत्तर के [illegible] कथानक रूढ़ियों का [illegible] मरु-गुर्जर जैन [illegible] बनना [illegible]

से उनका पुनर्मिलन प्रायः समस्त सूफी और अन्य साहित्य में मिलता है। इसी प्रकार विमाता का रोष, देवी-देवताओं की कृपा, शाप आदि कथानक रूढ़ियों का पूर्वरूप भी हमें मरु-गुर्जर जैन साहित्य में प्रचुर रूप से प्राप्त होता है।

कथाशिल्प

इसी प्रकार हमें मरु-गुर्जर जैन साहित्य से कथाशिल्प, काव्यरूप और छन्द आदि का भी अवदान प्रभूत मात्रा में प्राप्त हुआ है। अधिकतर जैन काव्य संधियों में विभक्त है। प्रत्येक संधि अनेक कड़वकों से मिलकर बनती है। कड़वक की समाप्ति धत्ता से होती है। इस प्रकार की शैली सूफी प्रेमाख्यानों में खूब प्रचलित हुई। आ. शुक्ल ने लिखा है कि चरितकाव्य के लिए जैन काव्य में अधिकतर चौपाई और दोहों की पद्धति ग्रहण की गई है। पुष्पदन्त (वि.सं.1029). के आदि पुराण और उत्तर-पुराण से प्रेरणा लेकर यह परम्परा सूफियों के प्रेमाख्यान और तुलसी के मानस तथा छत्रप्रकाश, ब्रजविलास आदि परवर्ती आख्यान ग्रन्थों में चलती रही। इसी प्रकार काव्य शिल्प के क्षेत्र में भी हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती पर जैन मरु-गुर्जर साहित्य का बड़ा ऋण है। देखते हैं कि रस, भाव, भाषा के अलावा साहित्य के अन्य अंगों जैसे -- छन्द, काव्यरूप आदि पर भी मरु-गुर्जर जैन साहित्य का व्यापक प्रभाव पड़ा है और इन भाषाओं का साहित्य इस ऋण को स्वीकार कर ही अपना अस्तित्व प्रमाणित कर सकता है।

छन्द-योजना

छन्दों के क्षेत्र में अपभ्रंश और मरु-गुर्जर जैन साहित्य की मौलिक देन है। मात्रिक छन्दों में तुक अथवा अन्त्यानुप्रास के द्वारा लय और संगीत का संचार पहली बार यहीं किया गया। अन्त्यानुप्रास का प्रयोग न तो संस्कृत काव्य में मिलता है और न प्राकृत में। अतः यह मरु-गुर्जर जैन साहित्य की परवर्ती भाषा साहित्य को महती देन है। जिस प्रकार श्लोक का सम्बन्ध संस्कृत से, गाथा या गाहा का प्राकृत से, उसी प्रकार दूहा या दोहा का सम्बन्ध अपभ्रंश से जाना जाता है। कहा जाता है कि दोहा, छन्द और अपभ्रंश भाषा आभीरों के साथ यहाँ आयी। अपभ्रंश से होकर दोहा, चौपाई, सोरठा, छप्पय आदि मान्त्रिक छन्द मरु-गुर्जर में आये। अतः मात्रिक छन्दों का हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं में अन्त्यानुप्रास के साथ प्रचुर प्रयोग मरु-गुर्जर का ही प्रभाव है।

काव्यरूप

काव्यरूपों की दृष्टि से जैन मरु-गुर्जर साहित्य बड़ा सम्पन्न एवं विविधतापूर्ण है। जैन कवियों ने लोक गीतों से देशी-धुनों और तर्जों को लेकर ढालें बनाई और उनके प्रयोग द्वारा उन्होंने काव्य को संगीत से समन्वित किया। मरु-गुर्जर जैन साहित्य में काव्य-रूपों की संख्या सैकड़ों हैं। इन्हें कई प्रकार से विभाजित किया जाता है। जैसे-- छन्दों के आधार पर रास, फागु, चउपइ, वेलि, चर्चरी, छप्पय, दोहा आदि; रागों की दृष्टि से बारहमासा, झूलणा, लावणी, बधावा, प्रभाती, गीत, पद आदि; नृत्य की दृष्टि से गरबा, डांडिया, धवल, मंगल आदि उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार कथा प्रबन्ध के आधार पर प्रबन्ध, खण्ड, पवाडो, चरित, आख्यान, कथा, संवाद, जन्माभिषेक आदि तथा संख्या के आधार पर अष्टक, बीसी, चौबीसी, बहोत्तरी, छत्तीसी, बावनी, सत्तरी, शतक आदि अनेक भेद मिलते हैं। उपासना के आधार पर भी नाना प्रकार के काव्यरूप मिलते हैं, जैसे -- विनती, नमस्कार, स्तुति, स्तवन, स्तोत्र आदि। इसी प्रकार ऐतिहासिकता के आधार पर पट्टावली, गुर्वावली, तलहरा आदि अनेक भेद उपलब्ध होते हैं। काव्यरूपों की ऐसी समृद्ध विविधता शायद ही किसी भाषा-साहित्य में उपलब्ध हो। यह सम्पूर्ण सम्पदा हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी भाषा साहित्य को मरु-गुर्जर जैन साहित्य से अनायास प्राप्त हो गई है, जिसके लिए इनका साहित्य मरु-गुर्जर जैन साहित्य का सदैव आभारी रहेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपरोक्त दृष्टियों से विचार करने पर यह साहित्य अत्यन्त मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण है, किन्तु इसका वास्तविक मूल्यांकन अभी तक नहीं हो सका है। जिसके कारण न केवल मरु-गुर्जर जैन साहित्य पूर्णतया प्रकाश में नहीं आ पाया, अपितु हिन्दी भाषा और साहित्य के अनेक महत्त्वपूर्ण पक्ष भी अंधेरे में रह गये हैं। उनके सम्बन्ध में जो अटकल-पच्चू अनुमान किए गये हैं, वे एक के बाद एक अप्रामाणिक सिद्ध होते जा रहे हैं। अतः आवश्यकता है कि हम अपनी भूल का परिमार्जन करें और लगन तथा ईमानदारी से इस विशाल एवं प्रामाणिक साहित्य के विविध पक्षों का विस्तृत एवं वैज्ञानिक अध्ययन करें।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. George Grierson, Linguistic Survey of India, Vol. I, p. 170
2. Dr. Suniti 'Chatterjee Origin and Development of Bengali Language', p.9.
3. श्री मो.द. देसाई 'मरुगुर्जर कविओ', भाग 1, पृ. 14
4. आ. गुलेरी 'पुरानी हिन्दी', पृ. 76
5. अगरचन्द नाहटा, राजस्थानी साहित्य का आदिकाल (परम्परा विशेषांक), पृ. 167
6. There is enormous mass of Literature in various froms in Rajasthani of considerable historical importance. G.A. Grierson, Linguistic Survey of India, p.10.

---

* 3, महामनापुरी, आई.टी.आई. रोड, बी.एच.यू., वाराणसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org